10. पूर्वोक्त आधार वाक्य की दृष्टि से हमें राज्य सरकार द्वारा पारित रद्दकरण संबंधी आदेश में कोई अवैधता या कमी प्रतीत नहीं होती तथा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए प्राधिकारियों द्वारा पारित रद्दकरण संबंधी आदेश में हस्तक्षेप करने की उच्च न्यायालय की कार्रवाई पूर्णतया गलत है। तदनुसार, हम पटना उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय को अपास्त करते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि प्रत्यर्थी सं॰ 1 के पक्ष में श्री कृष्णा नगर क्षेत्र में आबंटित भूखंड को रद्द करने संबंधी आदेश विधिमान्य है। अत: प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई रिट याचिका खारिज हो गई है और यह अपील मंजूर की जाती है।

11. इस मामले में समापन से पूर्व, हमारे ध्यान में एक चिन्ताजनक बात लाई गई और वह यह थी कि संबद्ध अभिलेख-अधिवक्ता द्वारा रजिस्ट्री कार्यालय में एक मृत व्यक्ति का शपथपत्र फाइल किया था किन्तु बाद में उसने अभिलेख पुस्तिका (पेपर बुक) से उस दस्तावेज को निकालने का प्रयास करके उस स्थिति से बच निकलने का प्रयास किया है। हम इस विषय में जांच का पहले ही निर्देश दे चुके हैं कि संबद्ध शपथ आयुक्त ने अभिसाक्षी के हस्ताक्षर उस तारीख को कैसे अनुप्रमाणित कर दिए जिसको वह जीवित नहीं था। हमने अभिलेख अधिवक्ता के विरुद्ध जिसने इस न्यायालय की रजिस्ट्री में वह शपथपत्र फाइल किया था, इस मामले में गंभीर रुख भी अपनाया, किन्तु सुनवाई के दौरान अभिलेख-अधिवक्ता द्वारा बिना शर्त माफी मांगने से हम ऐसा नहीं कर रहे हैं। तथापि हम यह मत व्यक्त करेंगे कि किसी व्यष्टिक मामले में कुछ फायदे के लिए कोई कूटरचित दस्तावेज फाइल करके न्यायालय का वातावरण दूषित न किया जाए और किसी भी अभिलेख अधिवक्ता को, जो कि न्यायालय का अधिकारी है, ऐसा दस्तावेज फाइल करने में अपने को लिप्त नहीं करना चाहिए।

ज॰/कृ॰ अपील मंजूर की गई।

[1998] 2 उम॰ नि॰ प॰ 120

सच्चिदानंद सिंह और एक अन्य

बनाम

बिहार राज्य और एक अन्य

3 फरवरी, 1998

मुख्य न्यायमूर्ति एम॰ एम॰ पुंछी, न्यायमूर्ति के॰टी॰ थामस और न्यायमूर्ति एम॰ श्रीनिवासन

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 195 (1) (ख) (ii) और धारा 340 (1)—लागू होना—वर्जन—यदि न्यायालय में कार्यवाही में साक्ष्य में पेश किए गए या दिए गए किसी दस्तावेज की बाबत उक्त धारा 463 में वर्णित या धारा 471, 475, 476 के अधीन दंडनीय अपराध किया जाता है तो उस अपराध का संज्ञान लेने के लिए धारा 195 (1) (ख) (ii) का वर्जन वहां लागू नहीं होगा जहां उक्त अपराध दस्तावेज के न्यायालय में पेश किए जाने से पहले किया गया हो।

कानूनों का निर्वचन—न्यायालय की साधारण अधिकारिता को दबाने वाले उपबंध का निर्वचन आमतौर पर कड़ाई से किया जाना चाहिए और गलत परिणाम पैदा करने वाले अर्थान्वयन से बचना चाहिए।

द्वितीय प्रत्यर्थी ने दंड संहिता की धारा 468, 469 और 471 के अधीन अपराधों के लिए मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में इस आधार पर परिवाद फाइल किया कि अपीलार्थियों ने एक दस्तावेज कूटरचित करके इसे कार्यपालक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में पेश किया था जिसके समक्ष उस समय संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही चल रही थी। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने वह प्रत्यर्थी पुलिस को भेज दिया। पुलिस ने तथ्य के आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की और अन्वेषण के बाद अपीलार्थियों के विरुद्ध आरोप पत्र प्रस्तुत किया। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अपराधों का संज्ञान लेकर अभियुक्तों को आदेशिका जारी की तब अपीलार्थियों ने अभियोजन अभिखंडित करने के लिए संहिता की धारा 482 के अधीन पटना उच्च न्यायालय में इस आधार पर आवेदन किया कि मजिस्ट्रेट संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) के वर्जन की दृष्टि से उक्त अपराधों का संज्ञान नहीं ले सकता। उच्च न्यायालय ने अपीलार्थियों की अर्जी खारिज कर दी। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील फाइल की गई। अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 195 (i) (ii) (ख) (ii) का अध्ययन, उसमें उल्लिखित वर्जन लागू करने के लिए दो मुख्य आधार तत्व प्रकट करता है। प्रथम यह है कि यह अभिकथन होना चाहिए कि कोई अपराध (वह या तो भा॰दं॰सं॰ की धारा 463 में वर्णित कोई अपराध या भा॰दं॰सं॰ की धारा 471, 475, 476 के अधीन दंडनीय कोई भी अन्य अपराध होना चाहिए) किया गया हो। दूसरा यह है कि ऐसा अपराध किसी न्यायालय की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में पेश किए गए या दिए गए किसी दस्तावेज़ की बाबत किया गया हो। हमारे समक्ष यह विवाद नहीं है कि यदि कूटरचना तब की गई, जब दस्तावेज किसी न्यायालय की अभिरक्षा में था, तो अभियोजन केवल न्यायालय द्वारा किए गए किसी परिवाद के साथ ही आरंभ किया जा सकता है। यह विवाद भी नहीं है कि यदि कूटरचित दस्तावेज ऐसी है, जो किसी न्यायालय में प्रस्तुत नहीं की गई है, तो अभियोजन किसी व्यक्ति के अनुरोध पर होगा। यदि ऐसा है तो क्या किसी न्यायालय में इसकी प्रस्तुति से स्थिति बदल जाएगी? (पैरा 6)

निर्वचन का यह एक सुमान्य सिद्धांत है कि न्यायालय की साधारण अधिकारिता पर रोक लगाने वाले उपबंध का निर्वचन सामान्यतः कठोरतापूर्वक किया जाना चाहिए, जब तक कि कानून या संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो। (पैरा 7)

इसके अतिरिक्त, धारा 195 (1) (ख) (ii) का निर्वचन अभियोजन कार्यवाहियां प्रारंभ करने के विरुद्ध वर्जन अन्तर्विष्ट करने वाले उपबंध के रूप में केवल इसलिए नहीं किया जा सकता कि संबंधित दस्तावेज किसी न्यायालय में पेश किया गया था, यद्यपि कूटरचना का कार्य न्यायालय में उसकी प्रस्तुति से पूर्व किया जा चुका था। ऐसे किसी भी अर्थान्वयन से नागवार परिणाम निकलना संभाव्य है। उदाहरण के लिए, यदि किसी मूल्यवान दस्तावेज की या आमूलचूल कूटरचना का पता चलता है और कूटरचियता को यह विश्वास है कि वह अभियोजन कार्यवाही में फंसने वाला है तो वह ऐसे किसी भी लम्बे खिंचने वाले मुकदमे में दस्तावेज को सरलता से पेश करवा सकता है, जो या तो उसके स्वयं के द्वारा या ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा, जिस पर उसका प्रभाव हो, संस्थित किया गया था और उसके द्वारा उस मुकदमे के लम्बित रहने की सम्पूर्ण लम्बी कालावधि के लिए अभियोजन स्वेच्छाधीन कर सकता है। यह एक सुस्थिर प्रतिपादना है कि यदि किसी विधान की भाषा ऐसी है कि उसका निर्वचन एकाधिक रूप में किया जा सकता है, तब ऐसा निर्वचन नहीं अपनाना चाहिए, जिसका परिणाम अनिष्टकारी हो सके। (पैरा 8)

पूर्वोद्धृत उपधारा की शर्त है कि न्यायालय द्वारा "धारा 195 (1) के खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी भी अपराध" के संबंध में परिवाद किए जाने के पूर्व न्यायालय को धारा 340 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, किसी न्यायालय द्वारा धारा 195(1)(ख) की परिधि में आने वाले किसी भी अपराध के संबंध में कोई परिवाद, उन प्रक्रियात्मक अपेक्षाओं को पहले अपनाये बिना, नहीं किया जा सकता। यह ध्यातव्य है कि धारा 340 संहिता के अध्याय 26 के भीतर आती है जो कि "न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाले अपराधों के बारे में उपबंधों" का एक खंड है जैसा कि उक्त अध्याय के शीर्षक से प्रकट होता है। इसलिए संहिता की धारा 195(1)(ख) में परिकल्पित अपराधों में ऐसे कृत्य अन्तर्वलित होने चाहिएं, जो न्याय-प्रशासन को प्रभावित करते हों। (पैरा 10)

संहिता की धारा 340(1) में परिकल्पित प्रारम्भिक जांच का क्षेत्र यह अभिनिश्चित करना है कि क्या न्यायालय में पेश किए गए या उक्त न्यायालय की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में दिए गए किसी दस्तावेज की बाबत न्याय-प्रशासन को प्रभावित करने वाला कोई भी अपराध किया गया है? दूसरे शब्दों में, अपराध उस समय के दौरान किया गया होना चाहिए जब दस्तावेज विधि अभिरक्षा अर्थात् न्यायालय की अभिरक्षा में हो। (पैरा 11)

यह सोचना स्थिति को ज्यादा खींचना होगा कि किसी दस्तावेज की कूटरचना को अन्तर्वलित करने वाला कोई भी अपराध यदि न्यायालय की परिसीमा से बहुत दूर और न्यायालय में इसके पेश किए जाने के बहुत पहले किया गया है तो भी केवल इसलिए न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला समझा जाएगा क्योंकि वह दस्तावेज बाद में न्यायालय अभिलेखों में आ गया है। (पैरा 12)

अवलम्बित निर्णय

		पैरा
[1966]	[1966] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 617: **अब्दुल वसीद खान बनाम भवानी;**	7
[1963]	(1963) 1 डब्ल्यू॰ एल॰ आर॰ 929: **गिल बनाम डोनाल्ड इम्बरस्टेन एण्ड कम्पनी लि॰।**	8

निर्दिष्ट निर्णय

[1995]	1995 क्रि० ला० ज० 1491: गोविन्द राजू बनाम कर्नाटक राज्य;	2
[1994]	ए० आई० आर० 1994 एस० सी० 1549: महादेव बापूजी महाजन और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य;	2
[1988]	आई० एल० आर० 1988 (मुम्बई) 64: अलका भगवन्त जादव बनाम महाराष्ट्र राज्य;	22
[1987]	ए० आई० आर० 1987 पंजाब और हरियाणा 19: हरबन्स सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य;	22
[1983]	[1983] 4 उम० नि० प० 814 = (1983) 4 एस० सी० सी० 240: गोपाल कृष्ण मेनन और अन्य बनाम डी० राजा रेड्डी और अन्य;	16
[1979]	[1979] 4 उम० नि० प० 913 = (1979) 1 एस० सी० सी० 373: गोस्वामी बनाम मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय;	17
[1974]	(1974)2 एस० सी० सी० 688: मोहन लाल और अन्य बनाम राजस्थान राज्य और अन्य;	15
[1976]	[1976] 4 उम० नि० प० 115= [1976] 2 एस० सी० आर० 933: पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम हरिदास मूद्ड़ा;	15
[1973]	(1973) 1 एस० सी० सी० 564: रघुनाथ और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य;	15
[1971]	[1971] 3 उम० नि० प० 549 = ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1935: पटेल लालजी भाई सोमाभाई बनाम गुजरात राज्य।	1

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 1996 की दांडिक अपील सं० 2059.

संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री के०बी० सिन्हा, वरिष्ठ अधिवक्ता, जे०डी० जैन कंवलजीत कोचर और एस०के० जैन

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से श्री बी०बी० सिंह

प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से श्री राकेश शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति के० टी० थामस ने दिया।

न्या॰ थामस — क्या न्यायालय में प्रस्तुत किसी कूटरचित दस्तावेज के संबंध में अभियोजन संबंधित न्यायालय द्वारा इस निमित्त परिवाद फाइल किए जाने के बिना भी किया जा सकता है? दूसरे शब्दों में, इस अपील में अन्तर्ग्रस्त प्रश्न यह है कि क्या ऐसे अभियोजन पर दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षिप्त में 'संहिता') की धारा 195 (1) (ख) (ii) में अन्तर्विष्ट प्रतिषेध लागू होगा? पूर्वोक्त प्रश्न का जो कि किसी हद तक जटिल हो सकता है, उत्तर पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 में तत्स्थानी उपबंध की परिधि पर विचार करते समय **पटेल लालजी भाई सोमाभाई बनाम गुजरात राज्य**[1] के निर्णय द्वारा इस न्यायालय ने अंतिम रूप से दे दिया था– ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु **गोपाल कृष्ण मेनन और अन्य बनाम डी॰ राजा रेड्डी और अन्य**[2] में इस न्यायालय के पश्चात्वर्ती निर्णय में उक्त मत से भिन्न मत व्यक्त किया गया जिससे यह प्रश्न फिर उठा और यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है। इस अपील में उक्त प्रश्न निम्नलिखित तथ्यों से उठा:—

1. मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा, अन्य बातों के साथ-साथ भारतीय दंड संहिता की धारा 468, 469 और 471 के अधीन अपराधों का अभिकथन करते हुए एक परिवाद इन तथ्यों पर फाइल किया गया कि अपीलार्थी ने एक दस्तावेज (जमाबन्दी की प्रमाणित प्रति–किराया सूची) को कूटरचित किया और उसे कार्यपालक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में प्रस्तुत किया जो उस समय संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही कर रहा था। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने उक्त परिवाद संहिता की धारा 156 (3) में यथा उपबंधित पुलिस को अग्रेषित कर दिया। पुलिस ने उक्त परिवाद के आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्टर में दर्ज की और अन्वेषण के पश्चात् अपीलार्थी के विरुद्ध उन अपराधों के लिए एक आरोप-पत्र प्रस्तुत किया। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने उन अपराधों का संज्ञान किया और अभियुक्त को आदेशिका जारी की। तब अपीलार्थियों ने मुख्यत: इस आधार पर अभियोजन को अभिखंडित करने के लिए संहिता की धारा 482 के अधीन आवेदन पटना उच्च न्यायालय के समक्ष किया कि संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) में अन्तर्विष्ट वर्जन की दृष्टि से मजिस्ट्रेट उक्त अपराधों का संज्ञान नहीं कर सकता था।

2. उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलार्थियों ने गोपाल कृष्णन मेनन (ऊपर) में इस न्यायालय के विनिश्चय को प्रोद्धृत किया, किन्तु उच्च न्यायालय के एकल न्यायपीठ ने, **महादेव बापूजी महाजन और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[3] में इस न्यायालय के एक पश्चात्वर्ती विनिश्चय का अवलम्ब लेकर, धारा 482 के अधीन फाइल की गयी उक्त याचिका को खारिज कर दिया। इसलिए अपीलार्थियों ने यह अपील विशेष इजाजत से फाइल की।

3. विद्वान वरिष्ठ काउंसेल श्री बी॰ बी॰ सिन्हा ने यह दलील दी कि यद्यपि **पटेल लालजी भाई सोमाभाई** बनाम **गुजरात राज्य**[1] का विनिश्चय इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा दिया गया था, अब सुसंगत नहीं है, क्योंकि उक्त विनिश्चय पुरानी संहिता के तत्स्थानी उपबंध के अधीन दिया गया था जो संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) के नये उपबंध से सूक्ष्म रूप में है और भिन्नता से स्थिति बिल्कुल बदल गई है। विद्वान वरिष्ठ काउन्सेल के अनुसार, **गोपाल कृष्ण मेनन**[2] में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित निर्णय मान्य होगा, क्योंकि उक्त विनिश्चय नयी संहिता के अधीन दिया गया था।

4. दूसरी ओर प्रथम प्रत्यर्थी (बिहार राज्य) की ओर से विद्वान काउंसेल श्री बी॰बी॰ सिंह ने यह तर्क दिया कि संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) में पुरानी संहिता के तत्स्थानी उपबंध के संबंध में किया गया मामूली परिवर्तन, पटेल लालजी भाई सोमाभाई में इस न्यायालय द्वारा स्थापित की गयी विधिक स्थिति को विचलित करने के लिए नहीं था। विद्वान काउंसेल ने संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) की परिधि के बारे में व्यापक अर्थ अपनाने के परिणामों पर प्रकाश डाला है। इन विवाद्यक को विनिश्चित करने के लिए उक्त खण्ड के सारवान् भाग को यहां उद्धृत करना उचित होगा:—

"कोई न्यायालय—

उसी संहिता की धारा 483 में वर्णित या धारा 471, धारा 475 या धारा 476 के अधीन दंडनीय अपराध का, जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की कार्यवाही में पेश की गई साक्ष्य में दी गई किसी दस्तावेत के बारे में किया गया है।

[1] [1971] 3 उम॰ नि॰ प॰ 549 = ए॰ आई॰ आर॰ 1971 एस॰ सी॰ 1935.

[2] [1983] 4 उम॰ नि॰ प॰ 884 = (1984) 4 एस॰ सी॰ सी॰ 240.

[3] ए॰ आई॰ आर॰ 1994 एस॰ सी॰ 1549.

संज्ञान ऐसे न्यायालय के, या किसी अन्य न्यायालय के, जिसके वह न्यायालय अधीनस्थ है, लिखित परिवाद पर ही करेगा, अन्यथा नहीं।''

5. अपीलार्थियों की दलील यह है कि यदि अभिकथित अपराध ऐसे दस्तावेज के संबंध में है, जो न्यायालय में पहुंच चुका है तो उपर्युक्त वर्जन प्रवर्तित होता है, यह महत्वपूर्ण नहीं है कि अपराध न्यायालय में उसकी प्रस्तुति से पूर्व किया गया था या उसके पश्चात्। दूसरे शब्दों में, अपीलार्थियों के अनुसार वर्जन को लागू करने वाली निश्चायक घटना न्यायालय में दस्तावेज की प्रस्तुति है।

6. खंड का अध्ययन, उसमें उल्लिखित वर्जन लागू करने के लिए दो मुख्य आधार तत्व प्रकट करता है। प्रथम यह है कि यह अभिकथन होना चाहिए कि कोई अपराध (यह या तो भा॰दं॰सं॰ की धारा 463 में वर्णित कोई अपराध या भा॰दं॰सं॰ की धारा 471,475,476 के अधीन दंडनीय कोई भी अन्य अपराध होना चाहिए) किया गया हो। दूसरा यह है कि ऐसा अपराध किसी न्यायालय की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में पेश किए गए या दिए गए किसी दस्तावेज की बाबत किया गया हो। हमारे समक्ष यह विवाद नहीं है कि यदि कूटरचना तब की गई, जब दस्तावेज किसी न्यायालय की अभिरक्षा में था, तो अभियोजन केवल न्यायालय द्वारा किए गए किसी परिवाद के साथ ही आरम्भ किया जा सकता है। यह विवाद भी नहीं है कि यदि कूटरचित दस्तावेज ऐसी है, जो किसी न्यायालय में प्रस्तुत नहीं की गई है, तो अभियोजन किसी व्यक्ति के अनुरोध पर होगा। यदि ऐसा है, तो क्या किसी न्यायालय में इसकी प्रस्तुति से स्थिति बदल जाएगी?

7. यदि संबद्ध खण्ड के दो निर्वचन किए जा सकते है तो भी सुव्यक्त कारणों से हमारा झुकाव अपेक्षाकृत संकुचित निर्वचन को पसंद करने की ओर होगा। संहिता की धारा 190 ''किसी प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट को'' कोई परिवाद प्राप्त होने पर या पुलिस रिपोर्ट या इत्तिला पर या उसके स्वयं के ज्ञान पर ''किसी अपराध'' का संज्ञान करने के लिए सशक्त बनाती है। धारा 195 मजिस्ट्रेट की ऐसी साधारण शक्तियों को निर्बंधित करती है और किसी व्यक्ति का किसी परिवाद के साथ न्यायालय में जाने का साधारण अधिकार उस सीमा तक कम कर दिया गया है। निर्वचन का यह एक सुमान्य सिद्धांत है कि न्यायालय की साधारण अधिकारिता पर रोक लगाने वाले उपबंध का निर्वचन सामान्यतः कठोरतापूर्वक किया जाना चाहिए, जब तब कि कानून या संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो [**अब्दुल वसीद खान** बनाम **भवानी**[1]]।

8. इसके अतिरिक्त, धारा 195 (1) (ख) (ii) का निर्वचन अभियोजन कार्यवाहियां प्रारंभ करने के विरुद्ध वर्जन अन्तर्विष्ट करने वाले उपबंध के रूप में केवल इसलिए नहीं किया जा सकता कि संबंधित दस्तावेज किसी न्यायालय में पेश किया गया था, यद्यपि कूटरचना का कार्य न्यायालय में उसकी प्रस्तुति से पूर्व किया जा चुका था। ऐसे किसी भी अर्थान्वयन से नागवार परिणाम निकलना संभाव्य है। उदाहरण के लिए, यदि किसी मूल्यवान दस्तावेज की आमूलचूल कूटरचना का पता चलता है और कूटरचियता को यह विश्वास है कि वह अभियोजन कार्यवाही में फंसने वाला है तो वह ऐसे किसी भी लम्बे खिंचने वाले मुकदमे में दस्तावेज को सरलता से पेश करवा सकता है, जो या तो उसके स्वयं के द्वारा या ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा, जिस पर उसका प्रभाव हो, संस्थित किया गया था और उसके द्वारा उस मुकदमे के लम्बित रहने की सम्पूर्ण लम्बी कालावधि के लिए अभियोजन अपनी स्वेच्छा से कर सकता है। यह एक सुस्थिर प्रतिपादना है कि यदि किसी विधान की भाषा ऐसी है कि उसका निर्वचन एकाधिक रूप में किया जा सकता है, तब ऐसा निर्वचन नहीं अपनाना चाहिए, जिसका परिणाम अनिष्टकारी हो सकता हो। **गिल** बनाम **डोनाल्ड इम्बरस्टोन एण्ड कम्पनी लिमिटेड**[2] से उद्धृत करते हुए मैक्सवैल ने अपनी कृति इन्टरप्रिटेशन आफ स्टेट्यूट्स (कानूनों का निर्वचन) 12वां संस्करण पृ॰ 105 पर यह कथन किया है कि ''यदि भाषा एक से अधिक निर्वचन में समर्थ है तो हमें ऐसे अधिक सहज अर्थ को भी त्याग देना चाहिए, जो अयुक्तियुक्त परिणाम की ओर ले जाता है और उस निवर्चन को अपनाना चाहिए, जो युक्तियुक्त रूप से व्यवहार्य परिणाम की ओर ले जाता है।'' उस खंड में, जिस पर हम अब विचार कर रहे हैं, यह दर्शाने के लिए पर्याप्त संकेत है कि अधिक सहज अर्थ वह है, जो सही अर्थान्वयन का पक्षधर है और परिणामस्वरूप पूर्वोक्त महाभिव्यक्ति यहां स्पष्टतः लागू होती है।

---

[1] [1966] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 617.

[2] (1963) 1 डब्ल्यू॰ एल॰ आर॰ 929.

9. चूंकि संहिता की धारा 340 (1) का धारा 195 (1) (ख) के साथ परस्पर संबंध है, अत: इस संदर्भ में उक्त उपधारा को निर्दिष्ट करना आवश्यक है। उक्त उपधारा निम्नलिखित रूप में है:—

"जब किसी न्यायालय की, उसकी इस निमित्त किये गये आवेदन पर या अन्यथा, यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा (1) के ख़ंड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की, जो उसे, या यथास्थिति, उस न्यायालय की कार्यवाही में या उसके संबंध में अथवा उस न्यायालय की कार्यवाही में पेश की गई या साक्ष्य में दी गई दस्तावेज के बारे में किया हुआ प्रतीत होता है, जांच की जानी चाहिए तब ऐसा न्यायालय ऐसी प्रारम्भिक जांच के पश्चात् यदि कोई हो, जैसी वह आवश्यक समझे:—

(क) उस भाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है;

(ख) उसका लिखित परिवाद कर सकता है;

(ग) उसे अधिकारिता रखने वाले प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को भेज सकता है;

(घ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष अभियुक्त के हाजिर होने के लिए पर्याप्त प्रतिभूति ले सकता है अथवा यदि अभिकथित अपराध अमानवीय है और न्यायालय ऐसा करना आवश्यक समझता है तो, अभियुक्त को ऐसे मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेज सकता है; और

(ङ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष हाजिर होने और साक्ष्य देने के लिए किसी व्यक्ति को आबद्ध कर सकता है।"

10. पूर्वोद्धृत उपधारा की शर्त है कि न्यायालय द्वारा "धारा 195 (1) के खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी भी अपराध" के संबंध में परिवाद किए जाने के पूर्व न्यायालय को धारा 340 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, किसी न्यायालय द्वारा धारा 195(1)(ख) की परिधि में आने वाले किसी भी अपराध के संबंध में कोई परिवाद, उन प्रक्रियात्मक अपेक्षाओं को पहले अपनाये बिना, नहीं किया जा सकता। यह ध्यातव्य है कि धारा 340 संहिता के अध्याय 26 के भीतर आती है जो कि "न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाले अपराधों के बारे में उपबंधों" का एक खंड है जैसा कि उक्त अध्याय के शीर्षक से प्रकट होता है। इसलिए संहिता की धारा 195(1)(ख) में परिकल्पित अपराधों में ऐसे कृत्य अन्तर्वलित होने चाहिएं, जो न्यायप्रशासन को प्रभावित करते हों।

11. संहिता की धारा 340(1) में परिकल्पित प्रारम्भिक जांच का क्षेत्र, यह अभिनिश्चित करना है कि क्या न्यायालय में पेश किए गए या उक्त न्यायालय की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में दिए गए किसी दस्तावेज की बाबत न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला कोई भी अपराध किया गया है? दूसरे शब्दों में, अपराध उस समय के दौरान किया गया होना चाहिए जब दस्तावेज विधि अभिरक्षा अर्थात् न्यायालय की अभिरक्षा में हों।

12. यह सोचना स्थिति को ज्यादा खींचना होगा कि किसी दस्तावेज की कूटरचना को अन्तर्वलित करने वाला कोई भी अपराध यदि न्यायालय की परिसीमा से बहुत दूर और न्यायालय में इसके पेश किए जाने के बहुत पहले किया गया है तो भी केवल इसलिए न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला समझा जाएगा क्योंकि वह दस्तावेज बाद में न्यायालय अभिलेखों में आ गया है।

13. इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **पटेल लालजी भाई सोमाभाई**[1] के मामले में पुरानी संहिता में की तत्संवादी धारा [धारा 195(1)(ग)] का निर्वचन लगभग उसी रीति से किया है, जो ऊपर उपदर्शित है। यहां पुरानी संहिता की धारा 195(1) के खंड (ग) का उद्धरण देना इस सन्दर्भ में उपादेय होगा:—

---

[1][1971] 3 उम॰ नि॰ प॰ 549 = ए॰ आई॰ आर॰ 1971 एस॰ सी॰ 1935.

"कोई न्यायालय ऐसे किसी अपराध का प्रसंज्ञान — जो उसी संहिता की धारा 463 में अभिवर्णित या धारा 471, 475 या 476 के अधीन दंडनीय है, जबकि ऐसे अपराध के लिए अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही के पक्षकार द्वारा ऐसी कार्यवाही में पेश की गई दस्तावेज या दिये गये साक्ष्य के बारे में किया गया है, ऐसे न्यायालय के या ऐसे अन्य न्यायालय के जिसके अधीनस्थ ऐसा न्यायालय है, लेखबद्ध परिवाद के सिवाय न करेगा।" (रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)।

पटेल लालजी भाई सोमाभाई (उपरोक्त) के मामले में अन्तर्विष्ट विवाद्यक किसी मामले में उक्त उपधारा के लागू होने से संबंधित है, जहां कूटरचित दस्तावेज किसी मामले में उसके किसी पक्षकार द्वारा पेश किया गया और तत्पश्चात् उसके विरुद्ध किसी निजी परिवाद के माध्यम से भारतीय दंड संहिता की धारा 467 और 471 के अधीन अपराधों के लिए अभियोजन चलाया गया हो। विनिश्चय का सार निम्नलिखित है:—

"जिन अपराधों के बारे में व्यथित प्राइवेट पक्षकारों को छोड़कर न्यायालय को वह यह अधिकार प्राप्त है कि वही परिवाद कर सकता है उनके संबंध में समुचित रूप से यह माना जा सकता है कि वे मात्र ऐसे अपराध हैं जिन्हें उस न्यायालय की किसी कार्यवाही के पक्षकार ने किया था। जिनके किये जाने का युक्तियुक्त रूप से निकट का संबंध उस न्यायालय की कार्यवाहियों से ऐसा होता है कि वह पूरी तरह से स्वतंत्र और नये सिरे से जांच आरम्भ किए बिना, मुख्य रूप से अपने अभिलेख के प्रतिनिर्देश करके, दोषी पक्षकार को अभियोजित करने की समीचीनता पर समाधानकारी रूप से विचार कर सकता है। इसलिए हमें यह अधिक समुचित प्रतीत होता है कि धारा 195(1)(ग) में अन्तर्विष्ट प्रतिषेध को सीमित करने वाले कड़े अर्थान्वयन को केवल उन मामलों में ही अपनाया जाए जिनमें किसी कार्यवाही के किसी पक्षकार के उसमें विनिर्दिष्ट अपराध ऐसे पक्षकार के रूप में उसी हैसियत में ही किया हो।"

14. इस प्रकार कथन करने के पश्चात् माननीय न्यायमूर्तियों ने यह मत व्यक्त किया कि विधानमंडल का आशय उपधारा में प्रतिषेध को, कार्यवाहियों के पक्षकार द्वारा उसे ऐसा पक्षकार बनने के पूर्व किए गए अपराधों तक विस्तारित करना नहीं हो सकता था। माननीय न्यायमूर्तियों के अनुसार इसके प्रतिकूल कोई भी अर्थान्वयन ऐसे व्यक्ति के अधिकार को अनुचित रूप से निर्बंधित कर देगा जिसके अपराध का संज्ञान संहिता की धारा 190 में किया गया था।

15. पूर्वोक्त विधिक स्थिति का अनुसरण इस न्यायालय द्वारा **रघुनाथ और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[1], **मोहन लाल और अन्य बनाम राजस्थान राज्य और अन्य**[2] और विधि परामर्शी, **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम हरिदास मूंदड़ा**[3] में किया गया था।

16. किन्तु **गोपाल कृष्ण मेनन और अन्य बनाम राजा रेड्डी और अन्य**[4] में न्या॰ देसाई और न्या॰ आर॰ एन॰ मिश्र जैसे कि वे उस समय थे का यह निष्कर्ष था कि समुचित सिविल न्यायालय (जिसके समक्ष अभिकथित कूटरचित रसीद पेश की गयी थी) से किसी परिवाद के अभाव में किसी प्राइवेट परिवाद के आधार पर आरम्भ किया गया कोई अभियोजन संधार्य नहीं था। किन्तु वह बिन्दु जिस पर विनिश्चय में विचार और चर्चा की गयी थी, यह था कि क्या भा॰द॰सं॰ की धारा 461 और 471 के अधीन अपराध भी संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) की परिधि में आने वाले भा॰द॰सं॰ की धारा 463 में वर्णित अपराध हैं?

17. उक्त विनिश्चय के अन्त में निश्चय ही यह उल्लेख किया गया था कि समुचित सिविल न्यायालय में परिवाद किये जाने के अभाव में प्राइवेट परिवाद के आधार पर अभियोजन संधार्य नहीं है। विद्वान न्यायाधीशों ने **पटेल लालजी भाई सोमाभाई** (ऊपर उद्धृत) और **गोस्वामी** बनाम **मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय**[5] में के विनिश्चयों का निर्देश किया और यह मत व्यक्त किया कि उन विनिश्चयों का विनिश्चयाधार उनके द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण का समर्थन करता है। गोस्वामी के मामले में अभिकथित कूटरचना उस कालावधि के दौरान की गयी जब दस्तावेज न्यायालय की अभिरक्षा में प्रश्नगत था और ऐसे मामले में धारा 195(1)(ख)(ii) के अधीन वर्जन

[1](1973) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 564.

[2](1974) 2 एस॰ सी॰ सी॰ 688.

[3][1976] 4 उम॰ नि॰ प॰ 115 = [1976] 2 एस॰ सी॰ आर॰ 933.

[4][1976] 4 उम॰ नि॰ प॰ 814 = [1983] 4 एस॰ सी॰ सी॰ 240.

[5][1979] 4 उम॰ नि॰ प॰ 913 = (1979) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 373.

निश्चित रूप से लागू होगा। किन्तु हम इस बात से सहमत होने में सादर असमर्थ हैं कि पटले लालजी भाई सोमाभाई[1] का विनिश्चयाधार गोपाल कृष्ण मेनन[2] के मामले में निकाले गये निष्कर्ष का समर्थन करता है।

18. विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल श्री के॰ बी॰ सिन्हा ने दलील दी कि वह स्थिति जो पटेल लालजी भाई सोमा भाई के मामले के विनिश्चय के अनुसरण में मानी गयी है, अब नयी संहिता की अधिनियमिति के साथ संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) में न्यायालय में किसी भी कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा शब्दों के अभाव के कारण बदल गयी है। दूसरी तरफ प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान काउंसेल ने दलील दी कि उन शब्दों को हटाये जाने का एकमात्र उद्देश्य ऐसे अन्य व्यक्तियों को धारा की सुरक्षा प्रदान करना था जो मुकदमे के पक्षकार नहीं हों।

19. पुरानी संहिता के तत्संवादी उपबंधों के साथ-साथ उपखंड की संवीक्षा से हम (किसी भी न्यायालय में किसी भी कार्यवाही में के किसी पक्षकार द्वारा) शब्दों को हटा दिए जाने को कोई महत्व देने के लिए उस विस्तार के सिवाय सहमत हो जाते हैं, कि हटाये जाने का आशय उन्हीं कार्यवाहियों में गैर-पक्षकारों को लाभ देना था।

20. विधि आयोग ने अपनी 41 वीं रिपोर्ट मे पैरा 15-39 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है:—

"15-39. धारा का प्रयोजन ऐसे प्राइवेट अभियोजनों का वर्जन करना है, जिनमें न्यायमार्ग को अवरुद्ध या विकृत करने का प्रयत्न किया जाए–ऐसी स्थिति में स्वयं न्यायालय को अपनी गरिमा और प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए कार्यवाही प्रारंभ करनी होती है। सिद्धांततः इस बात का कोई कारण नहीं है कि खंड (ग) का सरंक्षण साक्षियों द्वारा किये गये अपराधों को भी क्यों लागू नहीं हो। साक्षियों को भी तंग करने वाले अभियोजनों से सरंक्षण की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी पक्षकारों को और न्यायालय को ऐसे साक्षियों के कृत्यों पर भी जो किसी न्यायिक कार्यवाही के घटक हैं, उतना ही नियंत्रण रखना चाहिए जितना वह पक्षकारों के कृत्यों पर रखता है। इसलिए यदि खंड (ग) के उपबंधों का विस्तार साक्षियों पर भी कर दिया जाए तो यह विस्तार उस व्यापक सिद्धांत के अनुरूप होगा, जो धारा 195 का आधार है।"

21. विधि आयोग के उपर्युक्त तर्क जिन्होंने अन्ततः पूर्व में निर्दिष्ट शब्दों को हटाने के लिए संसदीय अभ्यास का मार्गदर्शन किया, असंदिग्ध रूप से ऐसा करने के विधायी उद्देश्य को दिशा देंगे।

22. यही विवाद्यक, विशेष तौर से पुरानी संहिता के तत्संवादी उपबंधों के संबंध में संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) में किए गये परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ के समक्ष आया। हरबंस सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य[3] में पूर्ण न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि उन शब्दों को हटाया जाना किसी व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने में मदद नहीं करेगा, क्योंकि निर्बंधित दृष्टिकोण संहिता की स्कीम से अधिक अनुरूप है। हमने यह नोट किया है कि कर्नाटक उच्च न्यायालय ने गोविन्द राजू बनाम कर्नाटक राज्य[4] और मुम्बई उच्च न्यायायल ने भी अलका भगवन्त जादव बनाम महाराष्ट्र राज्य[5] में यही दृष्टिकोण अपनाया है।

23. उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि संहिता की धारा 195 (1) (ख) (ii) में अन्तर्विष्ट वर्जन उस मामले को लागू नहीं होता है, जहां दस्तावेज की कूटरचना, किसी न्यायालय में उस दस्तावेज को पेश किये जाने के पूर्व की गयी हो। तदनुसार हम इस अपील को खारिज करते हैं।

या॰/कृ॰ — अपील खारिज की गई।

---

[1][1971] 3 उम॰ नि॰ प॰ 549 = ए॰ आई॰ आर॰ 1971 एस॰ सी॰ 1935.

[2][1983] 4 उम॰ नि॰ प॰ 814 = (1983) 4 एस॰ सी॰ सी॰ 240.

[3]ए॰ आई॰ आर॰ 1987 पंजाब और हरियाणा 19.

[4]1995 क्रि॰ ला॰ ज॰ 1491.

[5]आई॰ एल॰ आर॰ 1988 (मुम्बई) 64.